वैज्ञानिक चिन्तन का दर्शन : क्षमतायें और सीमाएं

❑ साधना सक्सैना

विज्ञान शिक्षण के परिप्रेक्ष्यगत चिन्तन का क्षेत्र आज भी गंभीर रूप से समस्याग्रस्त है। अभी तक विज्ञान के सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों का मामला सुलझा नहीं है । मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले की 16 शालाओं में 1972 से होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम शुरू हुआ। प्रस्तुत लेख में इस कार्यक्रम के आधार पर विज्ञान शिक्षण के मंतव्यों और प्रक्रियाओं को उपलब्धियों के संदर्भ में विश्लेषित किया गया है। लेख में कुछ बुनियादी सवाल उठाये गये हैं; जैसे - विज्ञान-शिक्षण और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की निर्मिति का क्या संबंध हो ? क्या वैज्ञानिक अवधारणाएं स्कूली चाहरदीवारी से बाहर अनुप्रयोग के लिए नहीं हैं ? भला विज्ञान-शिक्षण की तब क्या उपादेयता हो सकती है, जब वह सामाजिक संरचना में निहित जाति और लिंग जैसे अन्तर्भेदो एवं धार्मिक आग्रहों पर प्रतिक्रिया ही न करें ? इस संदर्भ में एक प्रश्न और उठता है कि क्या यह कार्यक्रम एक ऐसी पीढ़ी तैयार कर पाया, जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण की पक्षधर, प्रश्नाकुल और परिवर्तनकामी हो ?

मध्य प्रदेश राज्य के 15 जिलों की 500 से ज्यादा शासकीय शालाओं में एकलव्य संस्था के द्वारा चलाया जा रहा 'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' या 'होविशिका' विभिन्न कारणों से चर्चा का विषय रहा है । मध्यप्रदेश के अलावा गुजरात और राजस्थान की कुछ शासकीय शालाओं में भी इस कार्यक्रम को, वहीं के स्वैच्छिक समूहों की पहल पर और एकलव्य संस्था के सहयोग से, शुरू किया गया है । कई मायनों में यह कार्यक्रम शासकीय शालाओं में अकादमिक हस्तक्षेप का; विज्ञान शिक्षण बेहतर, रुचिकर और प्रयोगाधारित पद्धति से पढ़ाने का; एक बेजोड़ और महत्वपूर्ण प्रयोग रहा है । इसके बावजूद इस काम में सक्रिय लोगों को लगातार इस प्रश्न का सामना करना पड़ा है कि यह काम मध्य प्रदेश की शालाओं में ही क्यों शुरू किया गया, दिल्ली-बम्बई के स्कूलों में क्यों नहीं ? असल में यह प्रश्न दो अलग अलग खेमों में उठता रहा है और इन दोनों के बीच अन्तर करना जरूरी है । एक खेमे के लोग छोटे-बड़े स्थानीय नेता लोग हैं और आमतौर पर कार्यक्रम विरोधी रहे हैं । ये लोग स्कूली व्यवस्था में 'बाहरी तत्वों' के हस्तक्षेप और इसके साथ आने वाले नए विचारों में खतरे के चिन्ह देखते हैं । प्रत्यक्ष में यह कहते फिरते हैं कि इस कार्यक्रम के माध्यम से 'पिछड़ा विज्ञान' हमारे बच्चों पर थुप रहा है या यदि यह बेहतर विज्ञान है तो इसे दिल्ली के स्कूलों में लागू क्यों नहीं किया गया? हालांकि अपनी बात को ज्यादा प्रभावशाली बनाने के लिए जो दलीलें ये देते हैं, जैसे - 'आज जब मनुष्य चांद पर पहुंच गया है तो ये लोग हमारे बच्चों से टीन के डिब्बों के तराजू बनवाकर तराजू के सिद्धांत सिखा रहे हैं', उससे उनकी विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति की नासमझी ही प्रकट होती रही है ।

दूसरी तरफ ऐसे लोग रहे जिन्होंने इस काम के महत्व को समझा और चाहा कि ऐसा काम शहरी संपन्न शालाओं में भी होना चाहिये । यह संभव है कि कार्यक्रम का पूर्ण स्वरूप उभरने के पहले, यानि 1972-73 में, शासकीय शालाओं में हस्तक्षेप करने - पुस्तकें बदलने, शिक्षकों का प्रशिक्षण करने, परीक्षाओं में फेरबदल करने - इत्यादि का जो मौका होशंगाबाद जिले में दे दिया गया वह शायद दिल्ली या बम्बई के स्कूलों में न मिलता । परन्तु इसके लिए प्रयास भी नहीं किया गया क्योंकि, होविशिका समूह के लिए होशंगाबाद जिले के सरकारी स्कूलों में हस्तक्षेप का चुनाव विचारधारा से जुड़ा एक राजनैतिक फैसला था । जिन लोगों ने यह काम शुरू किया वे ग्रामीण विकास के काम में संलग्न थे और शालेय व्यवस्था में हस्तक्षेप करके पढ़ाई की गुणवता सुधारना भी उसी काम का एक हिस्सा माना गया । इस संदर्भ में यह भी कह देना जरूरी है कि इस कार्यक्रम की शुरुआत करने वाली दोनों संस्थाओं - फ्रेन्डज रूरल सेंटर और किशोर भारती-का यह निर्णय भी था कि शालेय वस्तुस्थिति को बदलने के लिए कुछ स्कूल चलाकर शिक्षा के बेहतरीन द्वीप खड़े करने से ज्यादा जरूरी है पूरी व्यवस्था में हस्तक्षेप करके उसे बदलना ।

होविशिका को गहराई से समझने के लिए इसके विभिन्न पहलुओं से दो-तीन स्तरों पर भिड़ना जरूरी होगा । एक स्तर है स्कूलों में शैक्षणिक पद्धति और उससे जुड़ी विभिन्न अकादमिक और प्रशासनिक चीजों को बदलना । यानी इसका लेना देना स्कूल के भीतर की अकादमिक प्रक्रियाओं में परिवर्तन लाकर वैज्ञानिक चिन्तन का विकास करने से है । यह वह स्तर है जिस पर सतत ढंग से काम हुआ । शिक्षा के संदर्भ में हो रही नारेबाजी, अभियानीकरण और गुणवत्ता सुधार के नाम पर रातोंरात किताबें और शिक्षक का दृष्टिकोण बदलने के दावों की 'त्वरित पद्धति' के आज के दौर में ऐसे सतत् काम के महत्त्व को समझना और भी जरूरी हो जाता है। पर इसके साथ ही एक महत्त्वपूर्ण स्तर और भी है जिसका संबंध स्कूली संस्था के बाहर और भीतर समाज, सामाजिक मान्यताओं, प्रक्रियाओं, द्वन्द्वों और अन्तर्द्वन्द्वों से है । इस लेख में इन दोनों स्तरों पर कार्यक्रम को समझने का एक प्रयास किया गया है ।

इस कार्यक्रम की शुरूआत 1972-73 में होशंगाबाद जिले की 16 शासकीय माध्यमिक शालाओं से हुई थी । आज, 27-28 वर्षों बाद, अब ये कार्यक्रम 500 से ज्यादा शासकीय शालाओं और कुछ प्राइवेट हिन्दी और अंग्रेजी माध्यम की शालाओं में चल रहा है । कार्यक्रम का लम्बा इतिहास राज्य की शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्विरोधों से भिड़ने, यानि नाजुक संतुलन बनाए रखते हुए जड़ व्यवस्था को हिलाते रहने और परिवर्तन के लिए अपनी जगह बनाए रखने के संघर्ष का इतिहास है । बावजूद इस संघर्षमय इतिहास के कार्यक्रम के दर्शन, दूरगामी उद्देश्य/परिप्रेक्ष्य, अपेक्षित परिणामों और बदलती हुई समझ आदि पर विश्लेषणात्मक लेखन की कमी सदा रही है । कुछ हद तक शायद यह रणनीति बतौर भी हुआ, क्योंकि सरकारी व्यवस्था में एक जीवंत, लोकतांत्रिक और उदार दर्शन का कार्यक्रम चलाना वैसे काफी मुश्किल काम है । उस पर यदि स्वयं ही सवाल उठा दिए, कमजोरियां बतायीं तो चहारदीवारी पर बैठे नेता व अन्य विरोधियों के हाथों खेलना होगा जिनकी न तो शिक्षा को लेकर कोई समझ या प्रतिबद्धता है न विज्ञान को लेकर। और जिनके लिए शालेय व्यवस्था निहित स्वार्थों को पूरा करने का अखाड़ा भर है । और ये मौके-बेमौके कार्यक्रम बन्द करवाने की धमकियां देते ही रहते हैं । परन्तु फिर भी, यह तर्क या मुद्रा कार्यक्रम पर विश्लेषणात्मक लेखन से बरी होने का बहाना भर ही हो सकता है, इससे ज्यादा कुछ नहीं ।

इस काम में घुसने के पीछे स्कूलों में विज्ञान शिक्षण की बेहद निराशाजनक परिस्थिति के प्रति गहरी चिन्ता रही है जिसका असर महाविद्यालयों में भी साफ दिखाई देता है । बावजूद ढेरों विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और शोध-संस्थानों के भारत में विज्ञान में मौलिक शोध की कमी ने विज्ञान शिक्षण पद्धति पर नजर डालने पर बाध्य किया । मसलन यह बात बार-बार चर्चाओं में सामने आती थी, जिसे प्रदर्शनियों के माध्यम से आम लोगों तक पहुंचाने का प्रयास भी होता रहा, कि दुनिया के कुल वैज्ञानिकों में से एक-तिहाई भारतीय होने के बावजूद भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मौलिक शोध में हमारा योगदान नगण्य है । इस परिस्थिति के लिए मूलतः खराब स्कूली पढ़ाई, जो रटन्त पद्धति और बेहिसाब जानकारियां स्कूली पुस्तकों में ठूंसने पर आधारित है, को जिम्मेवार माना गया । विश्वविद्यालयों के अलावा भारत के कई अग्रणी वैज्ञानिक शोध संस्थानों के वैज्ञानिकों ने भी स्कूलों में विज्ञान की पढ़ाई के घटते स्तर पर चिन्ता जताई थी । इन्हीं में से बहुत से वैज्ञानिक होविशिका से सक्रिय रूप से जुड़े ।

इस कार्यक्रम का व्यापक उद्देश्य वैज्ञानिक चिन्तन और मानसिकता का विकास करना रहा । इसके लिए स्कूली पाठ्यक्रम को बिना बदले पढ़ाने की पद्धति में आमूल परिवर्तन करने का प्रयास होविशिका समूह ने किया । पद्धति परिवर्तन के अन्तर्गत पुस्तकों की विषयवस्तु को बदला और उसे प्रयोगाधारित बनाया गया । इनके माध्यम से बच्चों में प्रयोग करने, अवलोकन, प्रश्न पूछने और विश्लेषण करके निष्कर्ष निकालने की क्षमता पैदा करने का प्रयास किया जाता है ।

कक्षा के भीतर के माहौल को बदलना, उसे वैज्ञानिक पद्धति के अनुकूल जनतान्त्रिक बनाना भी कार्यक्रम की पद्धति के अनिवार्य घटक रहे हैं । इसके तहत विज्ञान विषय के निर्धारित पाठ्यक्रम को रटन्त पद्धति के परे ले जाकर ; शिक्षकों और बच्चों के बीच संवाद के जरिये प्रयोगों, गतिविधियों और सामूहिक विश्लेषण के आधार पर विज्ञान पढ़ाया गया । इस तरह के परिवर्तन ने होशंगाबाद जिले की छठवीं से आठवीं की विज्ञान की कक्षाओं में एक नई जान डाल दी । दूर-दराज के गांवों और कच्चे शाला भवनों में, गोबर से लिपे कच्चे फर्श पर प्रयोग करते हुए बच्चे देखे जाना आम बात हो गई। स्कूलों के बाहर जाकर प्राकृतिक अवस्था में पौधों, फूलों, फसलों, मिट्टी, चट्टानों, तारों, चन्द्रमा की गतियों, इत्यादि का अध्ययन करना मान्य बातें हो गयीं । इस कार्यक्रम के माध्यम से माध्यमिक शालाओं के स्तर पर भी अकादमिक कड़ाई और गुणवत्ता की वह परम्परा और स्तर बनाना संभव हुआ जो बेहतरीन और सुविधा संपन्न शहरी स्कूलों में भी नहीं होता है । शिक्षकों ने यह स्तर ग्रामीण और कस्बाई शासकीय, कम या बिना साधनों वाले परन्तु समृद्ध पर्यावरणीय ज्ञान वाले स्कूलों में अपनी लगन और मेहनत से लागू करके दिखाया। कार्यक्रम के तहत गढ़े गए काल्पनिक मित्र 'सवालीराम' को बच्चों के प्रश्नों के सैंकड़ों पत्र मिलने लगे जो उनके उत्साह

सक्रियता और जिज्ञासा के प्रतीक हैं । कार्य-पुस्तक निर्माण, शिक्षक-प्रशिक्षण, परीक्षा-पत्र बनाने और परीक्षा मूल्यांकनों के दौरान कई विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के प्राध्यापकों ने जुटकर स्कूली शिक्षकों के साथ काम किया । इस प्रकार के योगदान से न केवल स्कूली पढ़ाई की गुणवत्ता बढ़ी और इन्होंने खुद भी बहुत कुछ सीखा बल्कि इससे विज्ञान विषय की महत्वपूर्ण बहसों को स्कूली शिक्षकों तक पहुंचाने का बेजोड़ काम भी हुआ । एक तरह से 1960 में कोठारी कमीशन की सिफारिशों में स्कूली शिक्षा में विश्वविद्यालयीन और महाविद्यालयीन विशेषज्ञता के योगदान के विषय में जो कहा गया था उसे भी लागू करके देखा गया ।

इन पहलुओं के जिक्र भर से कार्यक्रम के ऐसे सृजनात्मक पक्ष सामने आते हैं जो इसकी मजबूती के आधार बने जैसे, प्रयोगाधारित कार्यपुस्तकों का निर्माण और पुर्ननिर्माण, शिक्षकों का प्रशिक्षण, तर्कशीलता का विकास, शिक्षा प्रशासन के साथ संघर्ष, मूल्यांकन के नए मूल्यों की स्थापना, शिक्षकों-विद्यार्थियों और स्रोत व्यक्तियों के बीच कड़े ऊंच-नीच के रिश्तों का टूटना और समता का माहौल बनना, इत्यादि । इस प्रक्रिया के दौरान विज्ञान से जुड़ी कुछ जड़ मान्यताओं जैसे, विज्ञान अन्तिम सत्य बताता है, सटीक होता है, कभी संदेह नहीं छोड़ता, सही उत्तर एक ही होता है, छपा हुआ-खास तौर से महँगी विदेशी अंग्रेजी पुस्तकों में छपा-कभी गलत नहीं हो सकता, इत्यादि को तर्क और जानकारी के आधार पर चुनौती देने का प्रयत्न भी प्रशिक्षणों के दौरान किया गया। इसी के संदर्भ में परीक्षा और मूल्यांकन पद्धति पर नई सोच और समझ विकसित करने के सघन प्रयास किए गए । शिक्षकों के यह समझ में आया कि तर्कशीलता जांचने के लिए प्रायोगिक और लिखित प्रश्न बनाने में काफी सोच-विचार और सामूहिक चर्चा की जरूरत होती है । इसलिए बने हुए प्रश्नों की सामूहिक समीक्षा और आलोचना होना एक सकारात्मक पहलू है । शिक्षकों को यह भी समझ में आया कि एक ही प्रश्न के कई उत्तर हो सकते हैं, क्योंकि या तो प्रश्न अस्पष्ट था या बच्चों ने अपनी तार्किकता के आधार पर नई संभावनाएं सोचीं । परीक्षा प्रणाली पर इतना सोच-विचार और काम और इन मापदण्डों को बोर्ड़ की परीक्षा में भी लागू करवा पाना कार्यक्रम की अनूठी उपलब्धि रही ।

सीमाएं

वैज्ञानिक मानसिकता की सीमाओं को समझना और उन पर चर्चा करना यहां जरूरी इसलिए है क्योंकि यह उम्मीद की गयी थी कि एक पद्धति के रूप में यह समाज के विरोधाभासों की सटीक समझ तक स्वत: ही पहुंचायेगी । किशोर भारती के लेखन में इस तरह से परिभाषित पद्धति को निष्पक्ष पद्धति बताया गया और लगभग दावा किया गया कि, ''समाज विज्ञान में यथार्थ का अवलोकन कई नजरियों से किया जाता है । यथार्थ का कौन सा पहलू किसे दिखेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि देखने वाले की अपनी पृष्ठभूमि क्या है । इसकी तुलना में विज्ञान में यथार्थ का अवलोकन और विवेचन करने की प्रक्रिया कार्यकर्ता के मात्र वैज्ञानिक कौशल पर निर्भर करती है । उसकी वर्ग पृष्ठभूमि पर नहीं ।''[1](सद्गोपाल, 1979:9)

यहां होविशिका के संदर्भ में पहले यह समझने का प्रयास करें कि क्या वे इस हस्तक्षेप से स्कूली व्यवस्था की ज्यादा सटीक सामाजिक समझ विकसित कर पाए ? क्या इस समझ को हम अपने प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में शामिल कर पाए ? या क्या ऐसी उम्मीद करना भी गलत था ? क्योंकि वैज्ञानिक पद्धति की क्षमता तर्कशीलता का विकास और उदार माहौल का निर्माण करना है न कि समाज की एक सम्यक समझ बनाना ।

यह काम कुछ बुनियादी तयशुदा दायरों में ही हुआ । यहां तक कि पाठ्यक्रम के शैक्षिक और सामाजिक पक्षों पर एक सशक्त बहस भी कार्यक्रम के व्यापक उद्देश्यों का हिस्सा नहीं बनी । इसके साथ ही स्कूली व्यवस्था के अन्दर की घटनाएं और बाहरी सामाजिक संदर्भ आमतौर पर कार्यक्रम का हिस्सा नहीं बने। विज्ञान शिक्षण पूरी तरह से वस्तुनिष्ठता और निष्पक्षता जैसे निश्चयात्मक सोच को समर्पित था। इसलिए शालेय व्यवस्था के अन्दर और शाला जिस समाज में स्थित है उसके विरोधाभासों, द्वन्दों, असमानताओं, अन्यायों से कार्यक्रम अछूता रहा । अधिकतर वैज्ञानिक विज्ञान पढाने आए और देश के प्रमुख संस्थानों से गांवों और कस्बों के स्कूलों में विज्ञान पढ़ाकर, बुनियादी विरोधाभासों से अनछुए, प्रभावित हुए बिना वापस चले गये ।

इस कार्यक्रम के तहत वैज्ञानिक पद्धति के कुछ निश्चित घटक निर्धारित हुए - प्रयोग करना, अवलोकन, विश्लेषण, चर्चा और निष्कर्ष निकालना । प्रयोगाधारित कार्यपुस्तकें, शिक्षण प्रशिक्षण और परीक्षा इन्हें प्राप्त करने के जरिए बने। यह सरल रेखीय प्रक्रिया कई प्रश्नों को जन्म देती है । सवाल यह उठता है कि क्या जो विद्यार्थी इस तयशुदा प्रक्रिया से नहीं गुजरते वे जिज्ञासु नहीं बनते/होते या वैज्ञानिक नहीं बनते ? क्या समाज वैज्ञानिक जिज्ञासु नहीं होते ? ऐसी कौनसी अन्य प्रक्रियाऐं हैं जो लोगों में जिज्ञासा तर्कशीलता और आलोचनात्मक सोच जैसी क्षमताएं विकसित करती हैं ? क्या वैज्ञानिक खोजें और आविष्कार कुछ अन्य क्षमताओं और परिस्थितियों पर भी निर्भर रही हैं? वे क्षमताएं और परिस्थितियां क्या हैं ? इत्यादि ।

स्कूली दायरों में काम करने में निहित दो महत्वपूर्ण विरोधाभास

लिंगभेद और जातिभेद से संबंधित हैं । इन दोनों ही मुद्दों के दो अलग-अलग पहलू हैं । पहला पहलू तो यह समझना है कि क्या जाति और लिंग संवेदनशीलता विज्ञान की विषयवस्तु को प्रभावित कर सकते हैं ? क्या सरकारी पाठ्यक्रम की संरचना या उसके कुछ अवयव लिंगाधारित या जाति-आधारित भेदभावों को बढ़ाते हैं और समता और लोकतांत्रिकता जैसे उद्देश्यों को चोट पहुंचाते हैं? फिलहाल, यहां इस पहलू पर चर्चा नहीं करेंगे, क्योंकि इसके लिए विज्ञान, वैज्ञानिक पद्धति और निष्पक्षता जैसे दायरों में घुसने की जरूरत होगी । परन्तु इस संदर्भ में भी इतना कहना आवश्यक है कि होविशिका के दायरों में ये प्रश्न अभी तक उठे ही नहीं है ।

यहां से हम दूसरे पहलू पर आते हैं कि क्या दिए हुए पाठ्यक्रम से स्वतंत्र, एक कक्षा और शालेय सामाजिक व्यवस्था में इन मुद्दों का असर समझना, उसके प्रति सचेत होना संभव हुआ? क्या कभी लड़कियों की भागीदारी या उनके साथ हो रहे पक्षपात को हम देख पाए ? या कक्षा का जाति मानचित्र कैसा होता है, इस पर ध्यान भी दे पाए ? कौन कहां बैठता है ? शिक्षक किस जाति का है ? वह किन बच्चों को कैसे पुकारता है ? कौन ज्यादा चुप बैठता है? महिला शिक्षिका या दलित शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान या शाला में किन परिस्थितियों को झेलने पर मजबूर होते हैं ? कितनी शिक्षिकायें चाहते हुए भी प्रशिक्षण में क्यों नहीं पहुंच पातीं ? उनके साथ आये छोटे बच्चे, कई बार दूध पीते बच्चे, प्रशिक्षण के दौरान कैसे पलते हैं? कितनी महिला शिक्षिकाओं को घरवालों के कारण प्रशिक्षण में आने ही नहीं दिया जाता और किनको बीच में से ही छोड़कर जाना पड़ता है ? इत्यादि, इत्यादि। शालाओं की फॉलोअप रपटों में इन मुद्दों की झलक न के बराबर मिलती है । ऐसा लगता है कि यह जानने की कोशिश भी नहीं हुई कि जिस वैज्ञानिक पद्धति को विद्यार्थियों तक पहुंचाने का लक्ष्य कार्यक्रम में निर्धारित हुआ वह लिंगभेद और जातिभेद की सीमाओं को लांघकर प्रत्येक विद्यार्थी तक पहुंच भी पायी है या नहीं ?

विज्ञान शिक्षण अपने प्रमुख उद्देश्य, वैज्ञानिक मानसिकता का विकास, को स्थापित करता है । प्रश्न यह है कि क्या मात्र वैज्ञानिक दृष्टिकोण एक समग्र सामाजिक दृष्टिकोण विकसित करने के लिए काफी है ? यहा 'संधान' पत्रिका के लेख 'उत्तर आधुनिकता के बौद्धिक ढोंग', जिसमें लेखक प्रभात वैज्ञानिक द्वय सोकाल और ब्रिकमाण्ट की पुस्तक 'इन्टलेक्चुअल इम्पोस्टर' की समीक्षा करते हैं, उससे कुछ दिशा मिलती है । वे लिखते हैं :

''सोकाल और ब्रिकमाण्ट का मुख्य लक्ष्य प्रमाण और तर्कशीलता को स्थापित करना है । प्रश्न यह है कि क्या सिर्फ प्रमाण और तर्कशीलता के आधार पर एक सम्यक् दृष्टिकोण विकसित किया जा सकता है ?'' (159)

प्रभात आगे कहते हैं, ''इन दो के सहारे ऐसा दर्शन विकसित नहीं किया जा सकता है जो सदैव विकासमान हो और अंतर्द्वन्दों में फंसी वास्तविकता को समझने के लिए पर्याप्त हो । वास्तव में प्रमाण और तर्कशीलता बाह्य जगत के प्रति निष्क्रिय अवस्थाएं हैं, एक कैमरे की तरह, जो वास्तविकता जैसी है उसकी वैसी तस्वीर खींचता है । वास्तविकता को जानने के लिए ये दोनों आवश्यक हैं, लेकिन असलियत में मनुष्य विश्व की जानकारी उसको कैमरे की तरह सिर्फ देखकर नहीं बल्कि उसको बदलने की प्रक्रिया के दौरान प्राप्त करता है, यानि मनुष्य के अभ्यास को केन्द्र में रखकर ही उसके और बाह्य जगत के विषय में सम्यक् दृष्टिकोण विकसित किया जा सकता है । मनुष्य का अभ्यास मूलत: एक सामाजिक प्रक्रिया है, इसलिए मनुष्य के ज्ञान के बारे में एक सम्यक् दृष्टिकोण एक सामाजिक दृष्टिकोण भी होगा''। और, ''यह सही है कि प्रकृति के विषय में विज्ञान जो बातें बताता है उसका सामाजिक मूल्यों से संबंध नहीं होता है । पृथ्वी सूर्य के चक्कर लगाती है, इस कथन की सत्यता इस बात पर निर्भर नहीं करती कि इस बात को कहने वाला सामन्ती समाज में रहने वाला आर्यभट्ट है, उभरते पूंजीवादी समाज का न्यूटन है या भविष्य के साम्यवादी समाज का कोई व्यक्ति । लेकिन वैज्ञानिक अपनी विश्व दृष्टि के प्रभाव के अन्तर्गत प्रकृति से जिस तरह के प्रश्न पूछते हैं, पाये गए उत्तरों को जिस तरह प्रस्तुत करते हैं तथा आधुनिक समाज के शायद सबसे महत्वपूर्ण बौद्धिक अभ्यास, यानि विज्ञान के बारे में उनकी सोच, समाज की विचारधाराओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती (159) ।''[2] यह जरूर है कि होविशिका में बेहतर विज्ञान सिखाने और वैज्ञानिक चिन्तन के विकास के लिए शुरूआती समूह के द्वारा गांवों और कस्बों की शासकीय शालाओं का चयन एक सामाजिक विचारधारा का द्योतक भी है । परन्तु वैज्ञानिक चिन्तन का विकास और इस सामाजिक विचारधारा का यह सहअस्तित्व क्या स्वत: ही होविशिका के व्यापक समूह की सोच बना ? शायद नहीं । एक तरह से वैज्ञानिक चिन्तन ने सामाजिक विचारधारा चुनने की छूट बरकरार रखी । ◆

संदर्भ

1. सद्गोपाल अनिल, जन आन्दोलन में विज्ञान की भूमिका, 1980 दिन 15 और 22 नवम्बर।

2. प्रभात, आधुनिकता का बौद्धिक ढोंग, 2001, सन्धान : कृति , संस्कृति और सिद्धांत का मंच, अंक-2, जुलाई-सितम्बर ।